**ओ३म्**

**‘न्यायकारी व दयालु ईश्वर कभी किसी का कोई पाप क्षमा नहीं करता।’**

**-मनमोहन कुमार आर्य, देहरादून।**

संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं, चेतन व जड़ पदार्थ। चेतन पदार्थ भी दो हैं एक ईश्वर व दूसरा जीवात्मा। ईश्वर संख्या में केवल एक हैं जबकि जीवात्मायें संख्या में अनन्त हैं। ईश्वर के ज्ञान में जीवात्माओं की संख्या सीमित है परन्तु अल्पज्ञ जीवात्माओं की अल्प शक्ति होने के कारण वह बड़ी संख्या अनन्त ही होती है। चेतन पदार्थों में ज्ञान व कर्म, दो गुण पाये जाते हैं। सर्वथा ज्ञानहीन सत्ता चेतन नहीं हो सकती, वह सदैव जड़ ही होगी। इसी प्रकार से ज्ञान से युक्त सत्ता जड़ नहीं हो सकती वह सदा चेतन ही होगी। दो प्रकार की चेतन सत्ताओं में से एक सत्ता सर्वव्यापक है तो दूसरी एकदेशी है। सर्वव्यापक सत्ता सर्वज्ञ है और एकदेशी सत्ता अल्पज्ञ अर्थात् अल्पज्ञान वाली है। यह दोनों चेतन सत्तायें तथा एक तीसरी जड़ सत्ता प्रकृति, यह तीनों अनादि, अनुत्पन्न व नित्य हैं। अनादि होने के कारण इनका कभी अन्त वा नाश नहीं होगा। यह सदा से हैं और सदा रहेंगी। इसी कारण आत्मा को अनादि व अमर कहा जाता है। ईश्वर सर्वव्यापक होने के साथ निराकार, सर्वशक्तिमान व सर्वज्ञ भी है। सर्वज्ञ का अर्थ है कि ईश्वर में ज्ञान की पूर्णता व पराकाष्ठा है, न्यूनता किेचित नहीं है। यह सर्वज्ञता उसमें स्वाभाविक है और अनादि काल से है तथा अनन्त काल तक अर्थात् सदैव बनी रहेगी। ईश्वर सत्व, रज व तम गुणों वाली, त्रिगुणात्मक सूक्ष्म प्रकृति से इस सृष्टि की रचना करता है, उसका पालन करता है और अवधि पूरी होने पर प्रलय भी करता है। ईश्वर ही समस्त प्राणी जगत का उत्पत्तिकर्ता और पालनकर्ता है जिसमें मनुष्य व सभी पशु, पक्षी आदि प्राणी सम्मिलित है। यह भी जानने योग्य है कि ईश्वर से अधिक व उसके समान कोई सत्ता ब्रह्माण्ड में नहीं है। ईश्वर एक है और वह अपने समस्त कार्य स्वयं, अकेला व स्वतन्त्र रूप से करता है। उसे अपने कार्यों के सम्पादन में किसी अन्य जड़ व चेतन सत्ता अर्थात् प्रकृति व जीवात्माओं की अपेक्षा नहीं है। प्रकृति व सृष्टि उसके पूर्ण रूप से वश में है तथा जीव कर्म करने में स्वतन्त्र तथा फल भोगने में ईश्वरीय व्यवस्था में परतन्त्र है।

ईश्वर में अनन्त गुण हैं जिनमें उसका न्यायकारी होना व दयालु होना भी सम्मिलित है। दयालु होने के कारण कुछ भावुक व स्वार्थी प्रकृति के लोग अविवेकपूर्ण बात कह देते हैं कि ईश्वर दयालुता के कारण जीवात्माओं के पापों को क्षमा कर देता है। पापों को क्षमा करने की बात ईश्वर के स्वभाव के सर्वथा विपरीत है। ईश्वर किसी मनुष्य के किसी कर्म को दयालु होने पर कदापि किंचित क्षमा नहीं करता और न हि कर सकता है। यदि वह किसी के पापों को क्षमा करेगा तो फिर वह न्यायकारी न होकर अन्यायकारी कहा जायेगा। यह अन्याय उस मनुष्यादि प्राणी के प्रति होगा जिसके प्रति अपराध व पाप हुआ है। दया का अर्थ यह कदापि नहीं होता कि दयालु व्यक्ति किसी बुरा काम करने वाले व्यक्ति के काम को क्षमा कर दे। यदि कोई ऐसा करता है तो वह उस व्यक्ति का अपराधी होता है जिसके प्रति अपराध हुआ है। हम यह सभी जानते हैं कि अपराध को क्षमा करने से अपराध की प्रवृत्ति कम होने के स्थान पर बढ़ती है। दूसरी बात यह भी है कि जिस व्यक्ति के प्रति अपराध किया गया है, वह निर्दोष व्यक्ति भी अपराध क्षमा करने वाले के प्रति अविश्वास की भावना रखने लगता है जो कि उचित ही है। यदि ईश्वर ऐसा करेगा तो उसके प्रति भी यही विचार बनेंगे। मनुष्य तो अपने राग, द्वेष, हठ, दुराग्रह, स्वार्थ व अविद्यादि दोषों से ऐसा कर सकता है परन्तु सर्वशक्तिमान व सबके सब कर्मों का साक्षी परमात्मा ऐसा नहीं कर सकता। हम देखते हैं कि संसार में अपने धार्मिक मतों की मान्यताओं के अनुसार उन उन मतों का ईश्वर अपने भक्तों के पापों को क्षमा कर देता है, ऐसा कहा जाता व प्रचार किया जाता है। इसका एक प्रयोजन यह भी लगता कि उस मत के लोग दूसरे मत के लोगों को फंसा कर अपने मत में लाना चाहते हैं और अपने मत के लोग दूसरे सच्चे मतों में न चले जायें, यह उनका उद्देश्य होता है। अब उनसे प्रश्न है कि यदि उन मतों के अनुयायियों के पापों को उनके ईश्वर ने क्षमा कर दिया है तो फिर वह रोगी क्यों होते है, दुःख क्यों भोगते हैं, किस कारण उनकी इच्छायें पूरी नहीं होती, वह धन व सुख की कामना करते हैं, अधिकांश को वह नहीं मिलता, इसका क्या कारण है? जब कोई पाप बचा ही नहीं तब भी मनुष्य का दुःखी होना उस मत के ईश्वर का पापरहित जीवात्माओं के प्रति अन्याय ही कहा जायेगा। अब उसी दयालुता कहां गईं। किसी बात का दुःख उन मनुष्यों को मिल रहा है, जिनके पाप क्षमा कर दिये गये हैं? इसका एक ही कारण है कि ईश्वर एक है और वह सभी मतों के अनुयायियों को एक समान रूप से कर्मों के फल प्रदान करता है। दुःख हमारे जाने व अनजाने, इस जन्म व पूर्व जन्म में किये गये कर्मों का परिणाम होते है, और ईश्वर उन्हें किसी भी स्थिति में क्षमा नहीं करता। यदि हमारे पूर्व कृत बुरे कर्मों व पापों को ईश्वर क्षमा कर देता तो हम ज्ञान, स्वास्थ्य, साधनों व धन आदि में पूर्णतया सन्तुष्ट व सुखी होते। किसी को भी कोई क्लेष, कष्ट व दुःख नहीं होता। हमें अपनी किसी इच्छित वस्तु का किेंचित अभाव व कमी न होती। ऐसा न होने का कारण यही है कि हमारा प्रारब्ध व इस जन्म के कर्म ही हमारे इच्छित भोगों की प्राप्ति में बाधक हैं। यह भी स्पष्ट कर दें कि एक बार पाप हो जाने पर वह किसी पौराणिक पूजा व क्रिया से भी समाप्त नहीं हो सकता। उसका तो केवली एक ही उपाय है प्रायश्चित। प्रायश्चित करने में किसी धर्म गुरू आदि की आवश्यकता नहीं है। प्रायश्चित स्वयं किया जाना है। उसमें तो अपने उस कर्म की भर्तस्ना व निन्दा करनी है जिससे की भविष्य में वह पाप न हो। किये पाप का फल तो प्रायश्चित करने पर भी भोगना ही होता है क्योंकि यदि उसका फल ईश्वर नहीं देगा तो वह न्यायकारी नहीं रहेगा। हां पाप का फल देते हुए, और क्षमा प्रार्थना को अस्वीकार कर भी ईश्वर दयालु ही रहता है जिस प्रकार माता-पिता व आचार्य बच्चों के दोषों को दूर करने के लिए दण्ड देते समय उनके हित के लिए व अपनी दया प्रदर्शित करने के कारण ही उसे दण्ड देते हैं। दण्ड का उद्देश्य सुधार है, हां अकारण दण्ड देना अनुचित है जो कि ईश्वर कभी किसी के प्रति नहीं करता।

आईये, वेदों के महान विद्वान, विश्व गुरू व धर्मवेत्ता महर्षि दयानन्द के सत्यार्थ प्रकाश में लिखे एतद् विषयक प्रकरण पर एक दृष्टि डाल लेते हैं। महर्षि ने प्रश्न प्रस्तुत किया है कि ईश्वर अपने भक्तों के पाप क्षमा करता है वा नहीं? इसका उत्तर देते हुए वह कहते हैं कि (ईश्वर अपने भक्तों के पाप क्षमा) नहीं करता। जो पाप क्षमा करे तो उसका न्याय नष्ट हो जाय, और सब मनुष्य महापापी हो जायें, क्योंकि क्षमा की बात सुन कर ही उन को पाप करने में निर्भयता और उत्साह हो जाये। जैसे राजा अपराध को क्षमा कर दे तो वे उत्साहपूर्वक अधिक-अधिक बड़े-बड़े पाप करें। क्योंकि राजा अपना अपराध क्षमा कर देगा और उन को भी भरोसा हो जाय कि राजा से हम हाथ जोड़ने आदि चेष्टा कर अपने अपराध छुड़ा लेंगे ओर जो अपराध नहीं करते, वे भी अपराध करने से न डर कर, पाप करने में प्रवृत हो जायेंगे। इसलिये सब कर्मों का फल यथावत् देना ही ईश्वर का काम है, क्षमा करना नहीं। (प्रश्न) जीव स्वतन्त्र है वा परतन्त्र? (उत्तर) अपने कर्तव्य कर्मों में स्वतन्त्र और ईश्वर की व्यवस्था में परतन्त्र हैं। **‘स्वतन्त्रः कर्त्ता’** यह पाणिनीय व्याकरण का सूत्र है। जो स्वतन्त्र अर्थात् स्वाधीन है, वही कर्त्ता है। (प्रश्न) स्वतन्त्र किस को कहते हैं? (उत्तर) जिस के आधीन शरीर, प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरणादि हों। जो स्वतन्त्र न हो तो उस को पाप-पुण्य का फल प्राप्त कभी नहीं हो सकता। क्योंकि, जैसे भृत्य, स्वामी और सेना, सेनाध्यक्ष की आज्ञा अथवा प्रेरणा से युद्ध में अनेक पुरुषों को मार के अपराधी नहीं होते, वैसे परमेश्वर की प्रेरणा और आधीनता से काम सिद्ध हों तो जीव को पाप वा पुण्य न लगे। उस फल का भागी प्रेरक परमेश्वर होवे। स्वर्ग-नरक, अर्थात् सुख-दुःख की प्राप्ति भी परमेश्वर को होवे। जैसे किसी मनुष्य ने शस्त्र विशेष से किसी को मार डाला तो वही मारने वाला पकड़ा जाता है, और वही दण्ड पाता है, शस्त्र नहीं। वैसे ही पराधीन जीवन पाप-पुण्य का भागी नहीं हो सकता। इसलिये अपने सामर्थ्यानुकूल कर्म करने में जीव स्वतन्त्र, परन्तु जब वह पाप कर चुकता है, तब ईश्वर की व्यवस्था में पराधीन होकर पाप के फल भोगता है। इसलिये कर्म करने में जीव स्वतन्त्र और पाप के दुःख रूप फल भोगने में परतन्त्र होता है। (प्रश्न) जो परमेश्वर जीव को न बनाता और सामर्थ्य न देता तो जीव कुछ भी न कर सकता। इसलिए परमेश्वर की प्रेरणा ही से जीव कर्म करता है। (उत्तर) जीव उत्पन्न कभी नहीं हुआ, अनादि है। ईश्वर और जगत् का उपादान कारण, नित्य है। जीवात्मा का शरीर तथा इन्द्रियों के गोलक परमेश्वर के बनाये हुए हैं, परन्तु वे सब जीव के आधीन हैं। जो कोई मन, कर्म, वचन से पाप-पुण्य करता है, वही भोक्ता है, ईश्वर नहीं। जैसे किसी ने पहाड़ से लोहा निकाला, उस लोहे को किसी व्यापारी ने लिया, उस की दुकान से लोहार ने ले तलवार बनाई, उससे किसी सिपाही ने तलवार ले ली, फिर उस से किसी को मार डाला? अब यहां जैसे वह लोहे को उत्पन्न करने, उस से लेने, तलवार बनाने वाले और तलवार को पकड़ कर राजा दण्ड नहीं देता किन्तु, जिसने तलवार से मारा, वही दण्ड पाता है। इसी प्रकार शरीरादि की उत्पत्ति करने वाला परमेश्वर उस के कर्मों का भोक्ता नहीं होता, किन्तु जीव को भुगाने वाला होता है। जो परमेश्वर कर्म कराता होता तो कोई जीव पाप नहीं करता, क्योंकि परमेश्वर पवित्र और धार्मिक होने से किसी जीव को पाप करने में प्ररेणा नहीं करता। इसलिए जीव अपने काम करने में स्वतन्त्र है। जैसे जीव अपने कामों के करने में स्वतन्त्र है, वैसे ही परमेश्वर भी अपने कामों के करने में स्वतन्त्र है। अर्थात् जीवों के पाप-पुण्य रूपी कर्मों के फल देने में ईश्वर स्वतन्त्र है, वह जीवों के पापों को क्षमा नहीं करता और इससे उसकी दया में किंचित हानि नहीं उत्पन्न होती।

हम समझते हैं कि ईश्वर के न्याय व दया का स्वरूप पाठकों को स्पष्ट विदित हो गया होगा। दोनों पृथक पृथक है। संसार में कोई मनुष्य किसी मत व सम्प्रदाय को माने, परन्तु जो अशुभ व पाप कर्म वह करेगा उसका दण्ड उसको ईश्वर अवश्य देगा और जीवों को वह भोगना ही पड़ेगा। कोई जीव अपने अशुभ व पाप कर्म के फल से बच नहीं सकता और न संसार में कोई मनुष्य, धर्मगुरू बचा सकता है, ईश्वर भी किसी को बिना पाप का फल भोगे, छोड़ नहीं सकता। जब ऐसा है तो फिर बुरे कर्म करें ही क्यों? इसी कारण हमारे पूर्वज वेदों का ज्ञान प्राप्त कर ऋषि व विद्वान बनते थे और पाप नहीं करते थे। जब से संसार में अनेकानेक मतों की वृद्धि हुई है, उसी अनुपात में अशुभ-पाप कर्म भी बढ़े हैं। कर्म-फल सिद्धान्त को जानकर मनुष्य पाप करने से बच सकता है और पवित्रात्मा बनकर लोक-परलोक में उन्नति कर सकता है। अन्त में यह भी कहना चाहते हैं कि कई बार लोग अपने दुःखों से दुःखी होकर इसके लिए ईश्वर को दोष देते हैं। वह कहते हैं कि हमने इस जन्म में तो कोई बुरा कर्म किया नहीं फिर हमें यह भीषण दुःख कयों? उनकी यह भी दलील होती है कि उनकी जानकारी में बुरे कर्म करने वाले सुखी हैं। इसका कारण हमारे पिछले जन्म के कारण ही सम्भावित होते हैं। हम भूल चुके हैं परन्तु ईश्वर कुछ भी भूलता नहीं है। कर्म-फल सिद्धान्त भी यही है कि कर्मों के फल जन्म-जन्मान्तर में भोगे जाते हैं। अतः दुःखी व्यक्ति को ईश्वर में विश्वास रखते हुए यह सोचकर सन्तोष करना चाहिये कि जो कर्म भोग लिए वह तो कम हो ही गये और शेष कर्म भी ईश्वर को याद करते हुए भोग कर समाप्त हो जायेंगे। अन्य कोई उपाय भी हमारे पास नहीं है।

**मनमोहन कुमार आर्य**

**पताः 196 चुक्खूवाला-2**

**देहरादून-248001**

**फोनः09412985121**